प्रेम-धर्मका स्वरूप

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रीतिके धर्म और अप्रीतिके धर्ममें बहुत भेद वर्त्तमान है। जो लोग सोचते हैं कि प्रेम-धर्ममें भी कुछ अप्रीतिकर बातें हैं, तो जानना चाहिए उनके हृदयमें ही कुछ अप्रीतिकर धर्म वर्त्तमान है। आत्म-धर्म ही प्रेम-धर्म या प्रीतिका धर्म है। मनोधर्म ही अप्रीतिका धर्म है। विषयके प्रति आश्रय की नित्या शुद्धा अहैतुकी प्रीति और आश्रयके प्रति विषयकी शुद्धा प्रीति ही प्रेम-धर्म है। प्रेम-धर्ममें चिर ऐक्यतान (Harmony) वर्त्तमान है। प्रेम-धर्म याजनसे बिच्युति होने पर ही हम लोग परस्पर परस्परके प्रति भोगबुद्धि करते हैं। कृष्ण ही एकमात्र मूल विषय हैं और सभी कार्ष्ण ही एकमात्र उसी मूल विषयके आश्रय हैं। सापत्न्य धर्मविशिष्ट मानव जातिके सभी व्यक्ति ही श्रीकृष्णके सेवक हैं। यह बात जान लेने पर मनुष्यको किसी प्रकारसे कोई असुविधा न होगी। उस समय जीव अपने अपने नित्य सिद्धस्वरूप अर्थात् अपनेको 'वैष्णव' जानकर यथार्थ सत्य की उपलब्धि कर सकते हैं। उस समय वैष्णवके साथ वैष्णवकी स्वाभाविक प्रीतिका उदय होता है।

जगतमें प्रीति-धर्म की बात नहीं है। सर्वत्र ही विरोधमय संघर्ष धर्म वर्त्तमान है। यहाँ एक व्यक्ति की प्रीतिमें दूसरे की अप्रीति होती है, एक व्यक्तिके लाभमें दूसरे की हानि होती है। उदाहरणके लिए—कोई यक्ति बकरी, मुर्गी या मछलीको प्रीतिके

साथ भोजन करता है, तो उससे भोजन करनेवालेको सामयिक प्रीति होनेपर भी बकरी, मुर्गी या मछलीको प्रीति प्राप्त नहीं होती।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ प्रतियोगिता और हिंसा कर अर्थ संग्रह करता है, किन्तु उसके द्वारा दूसरे मनुष्योंको प्रीति नहीं होती। श्रीमन्महाप्रभुके भक्त लोग कदापि दूसरे व्यक्तिको उद्वेग नहीं देते। किन्तु प्राकृत व्यक्ति लोग अखण्ड भगवद्-वस्तुके साथ विरोध कर खण्ड वस्तुके साथ विरोध करते हैं। हम लोग कई समय 'वरं देहि', 'धनं देहि', द्विषो जहि' आदि जागतिक लोगोंकी प्रीतिकर बातें कहकर अपनेको और दूसरेको वंचित करते हैं।

कृष्ण सभी जीवोंका सर्वक्षण आकर्षण कर रहे हैं। वे जड़ प्रपञ्चमें हमारे निकट अर्चारूपसे और नाम के रूपसे प्रकटित हुए हैं। कपट व्यक्ति लोग षोड़शोपचार-द्वारा पुत्रपौत्रादि प्राप्त करने के लिए अर्चा-विग्रहकी आराधना करते हैं। किन्तु उनका उद्देश्य ठाकुर सेवाके विनिमयमें ठाकुरके निकट से कुछ प्राप्त करना। यह सेवा नहीं है। जिससे ठाकुरकी प्रसन्नता हो, वही सेवा है। जिससे अपनी सुख-सुविधा होती है, उसका नाम भोग है। वैष्णवोंको चित्तवृत्ति इस प्रकार है—

नास्था धर्मे न वसुनिचये
नैव कामोपभोगे,

यद्यद्भूयं भवतु भगवन्
पूर्वकर्मानुरूपम् ।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहुमतं
जन्मजन्मान्तरेऽपि ,
त्वत् पादाम्भोरुहयुगगता
निश्चला भक्तिरस्तु ॥

जो लोग जगतके वैचित्र्यसे मुग्ध हैं, या जो लोग मनोधर्मी हैं, वे लोग यह बात निष्कपट रूपसे कह नहीं सकते । "विनिमयमें मैं कुछ चाहता हूँ"—ऐसी बात अभक्ति या अवैष्णव धर्मकी बात है। किन्तु वर्त्तमान समयमें वैष्णव धर्मके नामपर ऐसा अवैष्णव धर्म ही प्रचलित है, भक्तिके नाम पर अभक्ति की ही चेष्टा सर्वत्र देखी जाती है। यदि हम कपटता कर कोटि जन्म तक अर्चना करें, कोटि जन्म तक मृदंग बजाय, कोटि जन्म तक कीर्त्तन करें और कपटताको ही धर्म कहकर प्रतिपादन करनेकी चेष्टा करें, तो हमारे ऐसे अर्चन, खोल बजाने और कीर्त्तन द्वारा हम लोग कर्ममार्गके ही पथिक हो पड़ेंगे, हमें भक्ति प्राप्त नहीं होगी। शुद्ध भगवद्भक्त की निष्कपट सेवाके बिना हमारा कोई कल्याण नहीं हो सकता। अर्चना और नाम-आराधना का नाम कर जगतमें कितनी कपटता चल रही है ! भगवान् और भगवद्भक्तको ठगना ही भगवद्-भक्ति है—ऐसा कुछ लोग समझते हैं।

इस ग्राम की ही बात है। चारसौ वर्ष पहले प्रेमदाता श्रील नित्यानन्द प्रभुके सङ्गी श्रील सुन्दरानन्द प्रभुने इस स्थानमे अवतीर्ण होकर जो प्रचार किया था, इस समय उसी-का एक विकृत प्रतिफलन देखा जाता है।

अभी सङ्कीर्त्तन-पिता श्रीगौर-नित्यानन्द को प्रीति के लिए हरि-संकीर्त्तन नहीं होता। ओला निवारण, ग्रामको श्रीवृद्धि, रोग-निवारण आदि आत्मेन्द्रिय-तर्पणपर भोगके लिए ही हरिकीर्त्तनका बाहरी अनुष्ठान मात्र होता है।

भगवान्‌की सेवा और सेवाका अभिनय दोनों ही अलग अलग बातें हैं। भगवान्‌के अर्चा-विग्रह की सेवा जिससे भलो प्रकार सम्पादित हो, उसके लिए विशेष चेष्टा करना अत्यन्त आवश्यक है। जो कोई व्यक्ति भगवान्‌की अर्चामूर्त्तिका सेवक नहीं हो सकता। दस रुपयेका कर्मचारी भगवान्‌की सेवा नहीं कर सकता, बीस रुपये देकर 'नाम' नहीं होता, पचास रुपये दाखिल करनेसे हरिकथाको वक्तृता नहीं होती, पाठ नहीं होता—उसमें भाषा-चातुरी या लोकरञ्जक आमोद-प्रमोद हो सकता है, वह भक्ति या वैष्णव धर्म नहीं है, उसका नाम भोग या कर्ममार्ग है।

आप लोग जानते हैं कि बुभुक्षा (भोग करनेको इच्छा) या मुमुक्षा (मोक्ष पानेकी इच्छा) द्वारा जगत् चालित हो रहा है। हम लोग कई समय त्यागीका वेश पहनकर भोगोके निकटसे कुछ भोग प्राप्त करनेके लिए दौड़ पड़ते हैं और भोगी लोग सोचते हैं—"क्या मैं त्यागोके निकटसे भोगकी कोई सामग्री ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकूँगा ?"

श्री आनन्दतीर्थ मध्व मुनिके चरित्रमें एक आख्यायिका का उल्लेख है। वे एकबार अपने शिष्योंके साथ बदारिकाश्रम

जा रहे थे। महाराष्ट्र प्रदेशके महादेव नामक राजा जनसाधारणके उपयोगके लिए एक पुष्करिणी खुदवा रहे थे, वे आनन्दतीर्थजी को उस रास्तेसे जाते देखकर उनसे पुष्करिणी खोदनेके लिए कहने लगे। कर्मी राजा यह नहीं जानते थे कि साधारणके उपकारार्थ किये जानेवाले कार्यका सम्पादन फालतू व्यक्तियों द्वारा भी हो सकता है। किन्तु जो लोग आत्मविद् हैं, उनके हाथमें फावड़ा देनेसे जगतके परम हितमें कमी आ जाती है। जगतमें जो कुछ भी शिल्प, विज्ञान, कृषि, कला आदिकी उन्नति हो रही है, सभी कुछ वैष्णव सेवामें नियोजित होनेपर ही उनकी सार्थकता है। ये सभी वस्तुएँ भोगियों-की सेवामें लगानेसे व्यर्थ श्रम और जगत-विनाश का कारणमात्र होता है। जब तक विष्णुवैष्णव की सेवा सर्वोत्कृष्ट है—ऐसी दृढ़ प्रतीति नहीं होगी, तब तक हमारा कदापि मङ्गल नहीं होगा। अतएव सर्वप्रथम अर्चामूर्त्ति की आराधना करना आवश्यक है। किन्तु अपने उदरभरण या अन्य किसी उद्देश्यके लिए नहीं।

हम लोग सभी जीवोंके द्वार-द्वार पर यही भिक्षा करते हैं कि आप लोग कृपापूर्वक प्रेम-धर्मका उपलब्धि करें। यहांके वैष्णव-वेशधारियोंका व्यवहार साधारण प्राकृत स्मार्त्त तो क्या, प्राकृत व्यवहारनिपुण व्यक्तियोंका भी समालोचनाका पात्र है। वे कहते हैं कि इन लोगोंका आचार वैष्णवोचित होना तो दूर रहे, साधारण मनुष्योचित भी नहीं है। अप्राकृत होना तो दूर रहे, प्राकृत व्यक्तियोंकी अपेक्षा भी घृणाके योग्य और राजद्वारमें दण्डनीय है। सब समय मङ्गल पथकी बाहरी रूपरेखा ही मङ्गलका पथ नहीं है। कपटता कर कई व्यक्ति यात्राके (नाटकाभिनयके) दलके नारद मुनि सज सकते हैं। किन्तु अर्चन कार्य यथार्थ रूपसे अच्छे व्यक्ति करें, यथार्थ रूपसे निष्कपट व्यक्ति कीर्त्तन करें; केवल सुर-मान-लय-ताल अच्छी तरहसे जाननेसे ही किसी व्यक्तिके मुखसे हरिनाम नहीं निकलता। जो व्यक्ति शुद्ध वैष्णव गुरुके पादाश्रय किये हैं, श्रीगुरुदेवके निकटसे वे ही कीर्त्तनाधिकार प्राप्त कर सकते हैं।